**ओ३म्**

**विदेशों में भारतीयों की स्थिति और आर्यसमाज**

**लेखकः स्व. क्षितिज वेदालंकार, सम्पादक आर्य जगत, दिल्ली।**

**प्रस्तुतकर्ताः मनमोहन कुमार आय, देहरादून।**

प्राचीन भारत के लोग भारतीय संस्कृति का सन्देश लेकर जिस तरह भारत की सीमाओं के पार गए और वहां उन्होंने अपना वर्चस्व स्थापित किया, वह भारत के इतिहास का एक उज्जवल पहलु है। यह कैसी विडम्बना है कि ब्रिटिश शासन काल में भारत से बाहर जो लोग गए वे गिरमिटिये मजदूरों के रूप में गए और इस रूप में उनका जितना शोषण हुआ, उसकी अत्यन्त दारूण कथा है।

कहां समुद्रों पर विजय प्राप्त करके दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्राज्यों की स्थापना करने वाले साहसी भारतीय और कहां समुद्रयात्रा को पाप समझने वाले हमारे धर्म-ध्वजी पौराणिक बन्धु। दूर क्यों जाएं-बीसवीं सदी में भी लोकमान्य तिलक और पं. मदन मोहन मालवीय जैसे राष्ट्रीय नेताओं में भी यह साहस नहीं था कि विदश से लौटने पर प्रायश्चित्त करने की परम्परा का विरोध कर सकें। इस प्रकार संकुचित दृष्टिकोण से देश की प्रगति में कितनी बाधा हुई, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन्नीसवीं सदी में वह उदारचेता व्यक्ति महर्षि दयानन्द ही थे जिन्होंने इस प्रकार के अज्ञान का विरोध किया और स्वयं अपने पट्टशिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को पाश्चात्य जगत् के विज्ञान और औद्योगिक उन्नति से परिचय प्राप्त करने के लिए विदेश भेजा। वही श्यामजी कृष्ण वर्मा बाद में भारत की आजादी के लिए क्रान्ति-पथ के पथिकों के संरक्षक और मार्ग-दर्शक बने।

**यह लेख आर्यजगत के विद्वान स्व. श्री क्षितीज वेदालंकार जी का है जो उन्होंने 19 अक्तूबर 1980 को प्रकाशित साप्ताहिक आर्यजगत, दिल्ली के ‘विदेश प्रचार और लन्दन आर्य महासम्मेलन विशेषांक’ में सम्पादकीय के रूप में लिखा था। इस लेख की अनेक बातें महत्वपूर्ण हैं एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जानने योग्य है। इसकी महत्ता के कारण हम इसे प्रस्तुत कर रहें जिससे विदेशों में रहने वाले आर्यसमाजी बन्धुओं सहित भारत के पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकें। -मनमोहन आर्य**

 सन् 1834 में, जब संसार में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानूनन दास-प्रथा समाप्त हो गई और अफ्रीका के हब्शी बेगार करने के लिए मिलने मुश्किल हो गए, तब उपनिवेशवादी शक्तियों का ध्यान भारत की ओर गया। साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए शोषण का यह नया अभियान था। आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजों ने भारत को खोखला कर ही दिया था। इस लिए गरीबी की चक्की में पिसते भारतीय समाज के निम्न वर्ग के लोग विदेश में अपना श्रम बेचने के लिए आसानी से तैयार हो गए। उस समय इन मजदूरों को तरह-तरह के झूठे-सच्चे प्रलोभन दिए गए। तब ब्रिटेन, फ्रान्स, पुर्तगाल और हालैण्ड, ये चार उपनिवेशवादी देश थे। इन चारों ने ही ब्रिटिश सरकार के सहयोग से भारतीय श्रमिकों को अपने उपनिवेशों में बुलाया। उन उपनिवेशों में जाकर भारतीय श्रमिकों ने जंगल साफ किये, खेती का सिलसिला जगाया, सड़के बनाई, रेले बिछाईं, खानों की खुदाई की और धीरे-धीरे उन उपनिवेशों को आधुनिक युग के अन्य देशों के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया। उन उपनिवेशों की उन्नति में जितना योग भारतीय श्रमिकों का है, उतना अन्य किसी का नहीं।

 जब इन भारतीय मजदरों के शोषण की कथा सामने आई और कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने उसके विरूद्ध आवाज उठाई तब ब्रिटिश सरकार ने 25 मई 1917 को एक कानून बना कर भारतीय मजदूरों का बाहर जाना रोक दिया। तब तक लाखों भारतीय श्रमिक बाहर जा चुके थे। जिन देशों में वे गए उनमें से मुख्य यह हैंः मारीशस, फिजी,, नैटाल, जमैका, सुरीनाम, गुयाना, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, सिंगापुर, केन्या, युगांडा, टागांनीका आदि। कुछ लोग कनाडा तक पहुंचे। जब समझौते के अनुसार उनकी मजदूरी की अवधि समाप्त हो गई, जो तीन से पांच साल तक होती थी, तब उन्हीं उपनिवेशों में उन्हें बसने की छूट दे दी गई। इनमें से कुछ लोग खेती के काम में लगे, कुछ रेलों, नगर पालिका और सरकारी सेवाओं में गए, कुछ ने अपना व्यापार धन्धा शुरू किया। धीरे-धीरे उनमें कुछ लोग अच्छे भूमिपति, व्यापारी, शिक्षक, डाक्टर, वकील और उद्योगपति तक बन गए। कुछ लोगों ने अपना परिवहन व्यवसाय प्रारम्भ किया और बसों तथा अन्य परिवहन-साधनों का बेड़ा खड़ा कर लिया। कुछ लोगों ने इमारतों की ठेकेदारी शुरू की और कई-कई मंजिलों की इमारतें बनाने का उनका व्यवसाय अच्छा चल गया। इस प्रकार धीरे-धीरे विदेशों में बसे भारतीय मूल के लोग अभाव और उत्पीड़न के माहौल से निकल कर अपने श्रम से समृद्धि के पथ पर बढ़ चले। अब वे गिरमिटिये मजदूर नहीं रहे थे, वरन इन देशों के समानाधिकार-सम्पन्न संभ्रान्त नागरिक थे।

 इन विदेश-स्थित भारतीयों की एक बहुत बड़ी विशेषता रही। वह विशेषता यह थी कि दास प्रथा के शिकार अधिकांश अफरीकी हब्शी जहां ईसाइयत को ग्रहण करके धार्मिक दृष्टि से अपनी अलग पहचान (आइडैंटिटी) खो बैठे, और पाश्चात्य सभ्यता की तीव्र आंधी के सामने नहीं टिक सके, वहां भारतीयों ने अपना अलग **‘व्यक्तित्व’** कायम रखा, अपनी संस्कृति और धर्म को भी उन्होंने तिलांजलि नहीं दी। पाश्चात्य सभ्यता का भयंकर झंझावात उनको भी रहन-सहन और बाह्य परिवेश में अपने साथ वहां तो ले गया, पर उसके सामने उन्होंने पूर्ण आत्मसमर्पण कभी नहीं किया।

**ईरान मिस्र रोमा सब मिट गए जहां से।**

**बाकी मगर अभी तक नामोनिशां हमारा।।**

**कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ।**

**सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।।**

सर मुहम्मद इकबाल ने भारतीय संस्कृति की जिस विशेषता की ओर उक्त पद्य में संकेत किया है, उसी विशेषता ने विदेश-स्थित भारतीयों को अपने धर्म और संस्कृति के प्रति आत्म विश्वास और स्वाभिमान से ओत-प्रोत रखा। इस प्रक्रिया में सबसे बड़ा योग आर्य समाज का है। छुआछूत-प्रधान और आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगतियों के साथ चलने में असमर्थ पौराणिक पन्थ इस दिशा में कारगर नहीं हो सकता था। फिर विधर्मियों के तर्क और शास्त्रार्थ के माध्यम से मुकाबला करने का सामर्थ्य, स्वदेश की तरह विदेश में भी आर्यसमाज के सिवाय और किसके पास है? इसलिए विदेश स्थित भारतीयों में आर्य समाज दिनानुदिन अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया व होता जाता है।

भारत की तरह अन्य देशों में भी राष्ट्रीयता की लहर उभरी। भारत तो आजाद हुआ ही। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सिंह भी इतना जराजीर्ण हो गया कि विभिन्न उपनिवेशों को अपने-पंजे में रखने में असमर्थ हो गया। जिन भारतीयों ने विदेशों की नागरिकता ग्रहण नहीं की थी, उनके सामने तब समस्या खड़ी हो गयी और शासन-परिवर्तन होते ही उनमें से बहुतों को कठिनाइयां का सामना करना पड़ा। परन्तु ब्रिटिश शासन के औपनिवेशिक काल में वे ब्रिटिश प्रजा थे, और ब्रिटेन उनको अपनी भूतपूर्व प्रजा मानने से इन्कार नहीं कर सकता था, इसलिए शासन-परिवर्तन के बाद जहां से भारतीयों को निकलने को बाध्य होना पड़ा, वहां से निकल कर बहुत से लोग इंगलैण्ड और कनाडा आदि में जाकर बस गए।

घटनाचक्र के परिवर्तन का फल क्या हुआ, इसको उदाहरण से यों समझिए-जब भारतीय सेना ने गोवा पर कब्जा कर लिया, तो मोजाम्बीक में बसे भारतीयों को वहां की पुर्तगाली सरकार ने निष्कासित कर दिया। इसी प्रकार की स्थिति का सामना जंजीबार, युगांडा, कीनिया, रोडेशिया और जाम्बिया में भी भारतीयों को करना पड़ा। अब भी इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि सरकारों में परिवर्तन होने के बाद नई सरकार कोई ऐसी नीति ग्रहण नहीं करेगी जिससे भारतीयों की नागरिकता के समान अधिकारों से संरिक्षत किया जा सके। बर्मा, श्री लंका, कीनिया, दक्षिण अफ्रीका, मलयेशिया आदि में भारतीयों को इस स्थिति का शिकार होना पड़ा है और उनको विदेशी समझा गया है जबकि उन देशों की उन्नति में उनका बराबर का योग है। गुयाना भी इस स्थिति का अच्छा उदाहरण है। वहां भारतीयों की आबादी 52 प्रतिशत है, हालांकि अन्य सब लोग भी वहां बाहर से ही आकर बसे हैं, किन्तु राजनीतिक दुरभिसंधि इतनी अधिक है कि बहुसंख्यक होने पर भी भारतीय अपने उचित राजनीतिक अधिकारों से वंचित है।

भारत सरकार की नीति यह है कि जो भारतीय विदेशों में बस गये हैं वे उसी देश के राजनीतिक और आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग बनकर रहें और भारत सरकार की ओर सहायता के लिए न ताकें। परन्तु, विदेशों में उन्हें और वहीं की नागरिकता प्राप्त किये भारतीयों के साथ जब अन्याय होता है, तब भारतीय मूल के उन लोगों का भारत सरकार की ओर सहायता के लिए ताकना स्वाभाविक है। संसार के अन्य देश अपने मूल के लोगों के हितों की रक्षा के लिए निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। पर भारत सरकार यहां भी निरपेक्ष बनी रहती है। जब उपनिवेशवादी शक्तियों का भारत में राज्य था, तब वे इस प्रकार की गारण्टी देती थी, पर आजाद हो जाने के पश्चात् भारत सरकार अपने इन विदेश-स्थित पुत्रों को अपनत्व के स्नेह से वंचित रखती है। इतने पर भी विदेश-स्थित भारतीयों का भारत के प्रति स्नेह कम नहीं हो पाता, यह हम भारतीयों की संस्कार-गत विशेषता है।

विदेश-स्थित भारतीयों की एक और विशेषता है। वे अपनी जीविका के लिए वहां गए थे, इस लिए वे फिजूलखर्ची और पाश्चात्य देशों के विलासिता प्रधान प्रलोभनों से काफी हद तक बचे रहे। इससे भी धीरे-धीरे बचत करके अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में उनको सफलता मिली। जब उनकी आर्थिक स्थिति सुधरी तब उन्होंने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। इस विषय में भीआर्य समाज ने पहल की। जिस तरह भारत में आर्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व काम किया है, उसी तरह विदेशों में भी उसने शिक्षा के क्षेत्र में अपने कर्तृत्व की छाप छोड़ी है। खासतौर से अफ्रीकी देशों में भारतीयों द्वारा संचालित अनेक शिक्षा संस्थाएं हैं। जिन-जिन देशों में भारतीय बसे हुए हैं उन-उन देशों के सामाजिक सुधारों के काम में भी वे खुलकर दान देते हैं। डरबन (दक्षिण अफ्रीका) में तो भारतीयों ने 15 लाख रूपये की लागत से एक टैकनिकल कालेज भी खोला है। हाल में ही 20 लाख रू. की लागत से उस कालेज का और विस्तार किया गया है। इस कालेज में बिना किसी रंग-भेद और जाति-भेद के सब को प्रवेश की सुविधा है।

भारतीय संस्कृति यद्यपि **‘वसुधैव कुटुम्बकम्’** की पक्षपाती है, और विदेश-स्थित भारतीय उन-उन देशों के नागरिकों से विचार के स्तर पर कोई भेद-भाव वहीं बरतते, पर सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर की भिन्नता के कारण वे उन देशों की सामान्य राष्ट्रीय धारा से अपने आपको एकाकार नहीं कर पायें, यह भी सत्य है।

जब पाश्चात्य लोगों ने नीग्रो लोगों से रंग के आधार पर भेद-भाव बरतना शुरू किया, तब नीग्रो लोगों में भी अपने रंग के प्रति अभिमान जागा और इस समय अफ्रीका के कई देशों में कृष्ण वर्ण के प्रति यह जागरूकता बढ़ती जा रही है। पहले वे श्वेत लोगों का अत्याचार चुपचाप सह लेते थे, अब वे प्रतिरोध करते हैं, और कहीं-कहीं उनका रूख आक्रामक भी हो गया है। यह स्थिति अफ्रीकी देशों में तो है ही, इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी इस आक्रामकता को अब अनुभव किया जाने लगा है।

विदेशों में बसे भारतीयों की उपेक्षा करने का समय अब नहीं रहा। वे वृहत्तर भारत के अंग हैं। भारतीय समृद्धि के वाहक हैं। और जब विज्ञान ने देशों की दूरियां जिस प्रकार कम कर दी हैं उसके कारण यह और भी आवश्यक हो गया है कि हम अपने आपको संसार से अलग-थलग न समझे, भारत माता के विदेश-स्थित पुत्रों को अपना स्नेह दें, उनकी समस्याओं को समझें और उनके निराकरण में सहायक हों। आर्य समाज विदेश प्रचार की ठोस योजना बनाकर इस दिशा में सक्रिय योगदान दे सकता है।

**-मनमोहन कुमार आर्य**

**पताः 196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः09412985121**